सेवा : आत्म-कल्याणक भी, लोक-कल्याणक भी

□ डॉ० नरेन्द्र भानावत
(हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर)

संसार में चार बातें प्राणी के लिये बड़ी दुर्लभ कही गई हैं। वे हैं—मनुष्य-जन्म, धर्म का श्रवण, दृढ़ श्रद्धा और संयम में पराक्रम।[1] मनुष्य-जन्म अनन्त पुण्यों का फल है। यह मिल जाने पर भी यदि शेष बातें नहीं मिलतीं तो मानव-जन्म सार्थक नहीं हो पाता। इसके लिए सत्संग और समाज का संस्कार मिलना आवश्यक है। मनुष्य जन्म लेने के बाद अपने शारीरिक और मानसिक विकास के लिए समाज पर निर्भर रहता है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध सहयोग और सेवा-भाव पर निर्भर है। इस दृष्टि से सेवा-भावना सामाजिकता का आधार है।

ज्यों-ज्यों प्राणी में इन्द्रियों का विकास होता जाता है। त्यों-त्यों उसमें सहयोग की भावना का बढ़ती जाती है। एक इन्द्रिय वाले प्राणी की अपेक्षा पंचेन्द्रिय में सहयोग भावनों का यह अभिवृद्ध रूप देखा जा सकता है।

सेवा-भावना का स्रोत तभी फूटता है जब व्यक्ति में दूसरों को अपने समान समझने की भावना का उदय होता है। हमारी आत्मा जैसे हमें प्रिय है, वैसे ही दूसरे की आत्मा उसे प्रिय है। ऐसा समझकर, संसार के सभी प्राणियों के प्रति मित्रता स्थापित कर, उनके दुःख को दूर करने में सहयोगी बनना सेवाधर्म का मूल है। जब व्यक्ति अपने अहंकार को भूलकर, मन और वचन में सरलता लाता है तभी वह सेवा के क्षेत्र में सक्रिय बन पाता है। 'सेवा' शब्द 'से' और 'वा' से बना है। 'से' का अर्थ है सेंचन करना और 'वा' का अर्थ वारण करना। सेवा के दो मुख्य कार्य हैं। एक तो दूसरे के कार्य में सहयोगी बनकर उसके कार्य को पूरा करना अर्थात् उसके कार्य को सिंचित करना और दूसरा उसके कार्य या जीवन-निर्वाह में जो बाधाएँ हैं उन्हें दूर करना, उनका निवारण करना। इस प्रकार सेवाधर्म जीवनरक्षा का धर्म है। इस धर्म का निर्वाह उत्तम रूप से तभी किया जा सकता है जब व्यक्ति दूसरों के दुःख को दूर करने या हल्का करने में अपने सुख का त्याग करे। त्याग-भावना के बिना सेवाधर्म का निर्वाह नहीं हो सकता।

त्याग भावना चित्त की निर्मल वृत्ति है। जब व्यक्ति कषाय भावों का त्याग कर सेवा में प्रवृत्त होता है तब उसमें सेवा के बदले यश, मान, प्रतिष्ठा आदि कुछ भी पाने का भाव नहीं रहता। पर जब ये कषाय भाव नहीं छूटते तब जो सेवा की जाती है उसमें प्रदर्शन और सम्मान पाने की भावना रहने से वह व्यवसाय का रूप धारण कर लेती है। आज सेवा का यह व्यवसायीकरण धार्मिक, सामाजिक और राजनैतिक संस्थाओं व पार्टियों में बढ़ता जा रहा है।

'उत्तराध्ययन' सूत्र के २९ वें अध्ययन 'सम्यक्त्व पराक्रम' में गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं कि हे भगवन्! वैयावृत्त्य अर्थात् सेवा करने से जीव को क्या लाभ होता है? भगवान उत्तर में फरमाते हैं कि वैयावृत्त्य अर्थात् सेवा करने से जीव को तीर्थंकरनामकर्म का बंध होता है? तीर्थंकरत्व जीव की वह उच्चतम अवस्था है जब आत्मा की ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बल आदि की समस्त शक्तियाँ प्रकट हो जाती हैं और जन्म-मरण के

---

१. चत्तारि परमंगाणि, दुल्लाहाणीह, जंतुणो।
माणुसत्त सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥ —उत्तराध्ययन सूत्र ३।१

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

भवप्रपंच से उसकी मुक्ति होना निश्चित हो जाता है। तीर्थंकर ऐसा धर्मनायक और लोकनायक है जो अपनी देशना के बल पर जीवों को संसार-सागर से पार उतारने में समर्थ है। सेवा का ऐसा महान् फल तभी मिल सकता है जब सेवा शुद्ध अन्तःकरण से की गई हो, उसमें छल, कपट और अहंकार की गन्ध न हो। भगवान् ऋषभदेव ने अपने पूर्वभव में जीवानन्द वैद्य के रूप में एक रुग्ण मुनि की निष्काम भाव से सेवा की, फलस्वरूप उन्हें तीर्थंकर पद की प्राप्ति हुई।

सेवा का क्षेत्र विस्तृत और बहुमुखी है। 'स्थानांग सूत्र' में दस प्रकार की सेवा बताई गई है—आचार्य की सेवा, उपाध्याय की सेवा, स्थविर की सेवा, तपस्वी की सेवा, शिष्य की सेवा, ग्लान-रोगी की सेवा, गण की सेवा, कुल की सेवा, संघ की सेवा और सहधर्मी की सेवा। अन्तिम चार सेवाओं में देश-सेवा और समाज-सेवा का भाव सम्मिलित है।

सेवा में ऊँच-नीच की भावना नहीं रहनी चाहिए। जिसकी सेवा की जा रही है उसके प्रति सेवाभावी के मन में हीनता की भावना नहीं आनी चाहिए। सच्ची सेवा में परमात्मा का वास होता है। पर आज सेवा को दान के साथ विशेष रूप से जोड़ दिया गया है। यद्यपि अपने परिग्रह का त्याग कर, उसका सेवाकार्यों में उपयोग करना अच्छी बात है, पर इसमें दाता सकारात्मक रूप से सक्रिय बन सेवा करने का अवसर नहीं प्राप्त कर पाता। धन कमाने के स्रोत कितने शुद्ध हैं इस पर भी सेवा की शुद्धता की निर्भर है। यदि तस्करी, भ्रष्टाचार जैसे अशुद्ध तरीकों से धन एकत्र कर दान दिया गया है तो वह फलदायी नहीं बनता। सच तो यह है कि मुद्रा के रूप में, पैसे के रूप में दान देने का हमारे यहाँ शास्त्रीय विधान नहीं है। दान के रूप में आहार-दान, औषध-दान, ज्ञान-दान और अभय-दान का विशेष उल्लेख रहा है। भूखे को भोजन देना और वह भी सम्मानपूर्वक, अज्ञानी को ज्ञान देना वह भी विवेकपूर्वक, रोगी को औषध देना वह भी प्रेमपूर्वक और प्राणी को सब प्रकार से निर्भय बना देना, दान का सर्वश्रेष्ठ रूप है। जब तक मन में घृणा है, अभिमान है, लोभ है, भय है, तब तक दान के रूप में ऐसी सेवा नहीं हो सकती। धनवानों को केवल धन का दान देकर ही नहीं रह जाना है। यह तो सेवा का नकारात्मक पक्ष है। व्यापार में 'स्लीपिंग पार्टनर' जैसा रोल है। उन्हें तो सक्रिय रूप से सेवा में साझीदार बनना चाहिए।

सेवा अहिंसा का सक्रिय रूप है पर हमने अहिंसा को कीड़े-मकोड़ों और पशु-पक्षियों की रक्षा तक ही सीमित कर दिया है। क्या कारण है कि मानव के द्वारा मानव का शोषण होने के खिलाफ हमारी अहिंसा का तेज प्रकट नहीं होता? हम सूक्ष्म अहिंसा के पालन पर तो बल देते हैं, पर मानव को शोषण और अन्याय से बचाने में अग्रणी नहीं बनते? हमने सेवा को मुख्यतः सन्त-महात्माओं की सेवा तक ही सीमित कर दिया है। विश्व की बृहत्तर मानवता, जो भूख से तड़प रही है, नानाविध रोगों से ग्रस्त है, आश्रय के अभाव में जो बेसहारा है, उसे त्राण देने में हमारे हाथ नहीं उठते, पैर नहीं बढ़ते। हमारी सेवा गरीबों की सेवा न बनकर, पूजा-पाठ और बाहरी धार्मिक क्रियाओं की सेवा बनती जा रही है। सेवा का यह रूप आत्मा को परमात्मा बनाने की बजाय पराधीन बनाता जा रहा है। हम ऊँचे स्वर से भगवान् का कीर्तन करते ही न रहें वरन् जो दुःखी और पीड़ित हैं उनकी पुकार सुनें, हम सन्त-महात्माओं के चरण-वन्दन करके ही न रहें वरन् समाज में जो पैरों तले कुचले जाते हैं, जो पददलित हैं, उन्हें ऊँचा उठावें, अपने गले लगायें।

सेवा से महान् पुण्य होता है। पर यह पुण्य मात्र कुछ देने से ही नहीं होता। शास्त्रों में जिन नौ पुण्यों की चर्चा की गई है उनमें प्रथम पाँच पुण्य—भोजन, पानी, स्थान, विश्राम के साधन, वस्त्र आदि देने से होते हैं पर अन्तिम चार पुण्य कुछ देने से नहीं वरन् मन में दूसरों के प्रति कल्याण की भावना आने से, दूसरों के प्रति हितकारी, प्रिय वचन बोलने से, अपने शरीर द्वारा दूसरों की सेवा करने से तथा गुणीजनों, गुरुजनों आदि के प्रति विनय, नमस्कार, सत्कार आदि करने से होते हैं। आज हम बाहरी क्रिया करने के ही अधिकाधिक अभ्यासी होते जा रहे हैं पर जब तक यह 'करना' हमारे 'होने' (becoming) बनने में परिणत नहीं होता तब तक सेवा सच्चे अर्थों में होती नहीं। भगवान् महावीर ने सेवा का तीर्थंकर गोत्र बनने का जो फल बताया है, वह सेवा की आन्तरिकता से जुड़ने पर ही सम्भव है। हम इस आन्तरिकता से जुड़ सकें इसी में अपना और दूसरों का कल्याण है। □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org